Gyanvividha, Vol.-3; Issue-1 (Jan.-March) 2026 : PP-130-134

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-4.5
Vol.-3; Issue-1 (Jan.-March) 2026
Page No.- 130-134
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

डॉ. कृष्ण आर्य

सहायक आचार्य, संस्कृत-पालि-प्राकृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र.

Corresponding Author :

डॉ. कृष्ण आर्य

सहायक आचार्य, संस्कृत-पालि-प्राकृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र.

पातञ्जल योगसूत्र में प्रतिपादित अभ्यास-वैराग्य द्वारा आत्मप्रबन्धन

सारांश- महर्षि पतञ्जलि का योगसूत्र आत्मप्रबन्धन का ग्रन्थ है यदि ऐसा कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। समाधि पाद के प्रारम्भ में योगपरिभाषा-विषयक सूत्र "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" आत्मप्रबन्धन की ओर ही संकेत करता है। यदि कोई व्यक्ति चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण कर ले तो उससे बड़ा आत्मप्रबन्धक कोई न होगा। योगसूत्र में प्रतिपादित चित्तवृत्तिनिरोध के सभी साधन आत्मप्रबन्धन की ऐसी विधियाँ हैं, जो क्रमशः शरीर, मन, बुद्धि का प्रबन्धन करते हुए व्यक्ति को आत्मा के प्रबन्धन (आत्म-साक्षात्कार) के योग्य बनाती हैं। प्रस्तुत लेख द्वारा आत्मप्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में योगसूत्र-प्रतिपादित अभ्यास-वैराग्य पर विचार किया गया है।

प्रमुख शब्द- आत्मप्रबन्धन, अभ्यास, वैराग्य, चित्त, चित्तवृत्तिनिरोध।

विषय-प्रवेश- आत्मा और प्रबन्धन शब्दों का परस्पर तत्पुरुष समास होने पर आत्मप्रबन्धन शब्द सिद्ध होता है। इन दोनों पदों के तत्पुरुष समास में अधोलिखित विभक्तियों द्वारा विग्रह सम्भव है, जो अर्थ की दृष्टि से पूर्णता का परिचायक है- आत्मना प्रबन्धनम् = आत्मप्रबन्धनम् अर्थात् आत्मा के द्वारा बुद्धि आदि का प्रबन्धन अथवा आत्मने प्रबन्धनम् = आत्मप्रबन्धनम् अर्थात् आत्मा के लिए बुद्धि आदि का प्रबन्धन अथवा आत्मनि प्रबन्धनम् = आत्मप्रबन्धनम् अर्थात् आत्मा में बुद्धि मन तथा इन्द्रियों को संयुक्त करना अथवा आत्मनः प्रबन्धनम् = आत्मप्रबन्धनम् अर्थात् परमात्मा में आत्मा का प्रबन्धन। उपर्युक्त चारों ही अर्थों में आत्मप्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में योगदर्शन के अन्तर्गत भगवत् पतञ्जलि ने विशद विचार किया है।

ध्यातव्य है कि आत्मप्रबन्धन करने की आवश्यकता क्यों होती है? इसका उत्तर है- क्योंकि जीवात्मा अविद्यावशात् जड प्रकृति से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। जीव और प्रकृति का यह सम्बन्ध हेय है, जिसका हेतु अविद्या है।[1] इस अविद्या के प्रभाव से चित्त विषयानुगामी हो जाता है।

चित्त की वृत्तियाँ विषयानुरुप हो जाती हैं। जैसा कि योगदर्शनकार ने कहा है- **'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'**[2] अर्थात् जब चित्त की वृत्तियों का निरोध नहीं रहता है तब चित्त और उसकी वृत्ति में सारुप्य सम्बन्ध रहता है। इस सम्बन्ध को हटाने के लिए ही आत्मप्रबन्धन की आवश्यकता होती है।

महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है, जिसमें दास-अनुदास रूप अन्तःकरण और इन्द्रियाँ आत्मा के द्वारा नियन्त्रित करने योग्य होती हैं। आत्मा के प्रबन्धन से ही अपने कार्य को इन्द्रिय समुदाय और अन्तःकरण सम्पन्न करता है। जब तक प्रबन्धन नहीं होता तब तक मन और इन्द्रियाँ वृत्तियों के अनुरूप कार्य करती हैं। ये वृत्तियाँ चित्त की प्रकृति के अनुसार संसाराभिमुखी होती हैं, जिससे जीवात्मा पतन की ओर जाता है। प्रमाण आदि सभी वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार की हैं। विपर्यय वृत्ति जो मिथ्या ज्ञानात्मक हैं वह क्लिष्ट ही रहती है किन्तु प्रमाण वृत्ति अक्लिष्ट रुप में प्रयुक्त होती हुई समुन्नति का साधन भी बन सकती है। इसके लिए जीवात्मा को अपने तन्त्र का प्रबन्धन करना होगा।

जिस चित्त का प्रबन्धन नहीं किया जाता है वह इन्हीं वृत्तियों में भटकता हुआ जन्म मरण के कुचक्र में जीव को भटकाता रहता है। प्रमाणादि पाँचों वृत्तियों का निरोध किस प्रकार हो इसके लिए कतिपय उपाय योगदर्शन में प्रतिपादित हैं, जिनमें से प्रमुख उपाय हैं अभ्यास एवं वैराग्य। आत्मप्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में इन उपायों पर विचार करना यहाँ अभीष्ट है।

अभ्यास- अभि उपसर्ग पूर्वक 'आस उपवेशने'[3] धातु से अच् प्रत्यय[4] अथवा 'अस् भुवि'[5] या 'असु क्षेपणे'[6] धातु से घञ् प्रत्यय करके अभ्यास शब्द की सिद्धि होती है। अभितो आसः उपवेशनम् अभ्यास इति अर्थात् स्वयं को सब ओर से रोककर एक विषय में उपविष्ट हो जाना अभ्यास है। 'अस भुवि' धातु से घञ् प्रत्यय में अभ्यास शब्द की सिद्धि करने पर इस शब्द की व्युत्पत्ति होगी- अभितो अस्यते भूयते येन यस्मिन् वा सोऽभ्यासः अथवा अभ्यसनम् अभ्यासः। अर्थात् जिस पद्धति से आत्मा का अस्तित्व वर्तमान होता है उसे अभ्यास कहते हैं अथवा उपस्थिति, विद्यमानता, अस्तित्व को भी अभ्यास कहते हैं। 'असु क्षेपणे' धातु से इस शब्द की सिद्धि करने पर इसका अर्थ होगा- वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर किया जाता है वह अभ्यास है। धात्वर्थ के आधार पर अभ्यास शब्द का यह अर्थ योगदर्शन के प्रसङ्ग से संगति भी रखता है।

आचार्य व्यास ने अभ्यास के विषय में विवेचन करते हुए लिखा है कि यह चित्त रूपी नदी दोनों ओर बहने वाली है। कल्याण के लिए भी बहती है और पाप के लिए भी। जब कैवल्य की ओर बहती हैं तब विवेक विषय की ओर उसका ढलान रहता है तथा वह कल्याण की ओर बहने वाली होती है। जब वह संसार की ओर बहती है तब अविवेक विषय की ओर उसका ढलान रहता है एवं वह पाप की ओर बहने वाली होती है। विवेकदर्शन के अभ्यास से विवेक का स्रोत उद्घाटित किया जाता है।[7]

महर्षि पतञ्जलि ने अभ्यास और वैराग्य इन दो तत्त्वों से चित्तवृत्तियों के निरोध का विधान किया है[8] जिसमें अभ्यास का वर्णन करते हुए लिखा है कि- **'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'**[9] चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए जो यत्न किया जाता है उसी का नाम अभ्यास है। व्यास ने इस पर लिखा है कि वृत्तियों से रहित चित्त का प्रशान्त होकर निस्तरङ्ग बने रहना स्थिति है, उस स्थिति के लिए प्रयत्न करना अर्थात् शक्ति और उत्साह लगाना। उस प्रयत्न के सम्पादन की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करना अभ्यास कहलाता है।[10] इस पर भोजवृत्तिकार कहते हैं कि वृत्तिरहित चित्त का स्वरुपनिष्ठ परिणाम स्थिति है। उस स्थिति में यत्न उत्साह है। बार-बार तत्त्व के द्वारा चित्त में वृत्तियों का प्रवेश करना अभ्यास कहलाता है।[11]

व्यास ने तत्साधनानुष्ठान को अभ्यास कहा है और भोज ने तत्त्व के द्वारा पुनः पुनः चित्त में वृत्तियों के निवेश को अभ्यास कहा है। यद्यपि दोनों आचायों के कथन में भेद प्रतीत होता है किन्तु विवेक ज्ञान के साधनों का अनुष्ठान किया

जाए अथवा विवेक द्वारा उन अनुष्ठानों का चित्त में निवेश कराया जाए इन दोनों कथनों का भाव एक ही है। यह सुनिश्चित है कि चित्त की वृत्तियाँ जो क्लिष्ट रूप में चित्त को और चित्त के माध्यम से लक्ष्य को च्युत कर रही थी उन वृत्तियों को चित्त से हटाकर विवेकज्ञान रूपी अक्लिष्ट वृत्तियों को चित्त में बारम्बार प्रतिष्ठित करना अभ्यास कहा जाता है। पौनःपुन्य यहाँ पर विशेष हेतु है, जिसका संकेत भोज ने किया है। तत्साधनानुष्ठान कहने से पौनःपुन्य का भाव प्रकट नहीं होता। यहाँ भोज का कथन अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है। एक ही स्थिति में यह अभ्यास अनेक बार करना होता है क्योंकि चित्त दर्पण अथवा श्वेत वस्त्र के समान है। यह प्रायः संस्कार रूपी धूल से धूसरित होता रहता है। अतः इस अभ्यास को बारम्बार करना होता है। इसीलिए पतञ्जलि ने आगे कहा है- **'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः'**[12] अर्थात् वह अभ्यास लम्बे समय तक निरन्तरता से सत्कारपूर्वक सेवन किया जाता हुआ दृढ अवस्था वाला हो जाता है। अभ्यास को एक बार करने पर वह अभ्यास होता ही नहीं है अपितु उसे बार-बार करना होता है। अन्यथा पुरातन संस्कार पुनः प्रभावित कर सकते हैं।

उक्त सूत्र पर व्यास ने लिखा है- दीर्घकालासेवित, निरन्तरासेवित और सत्कारासेवित। तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से सम्पादित होने पर सत्कारवान् दृढभूमि वाला हो जाता है, अर्थात् व्युत्थान संस्कार के द्वारा शीघ्र ही अभिभूत नहीं होता है।[13] भोज ने व्यास का लगभग समर्थन करते हुए लिखा है- **'बहुकालं नैरन्तर्येण आदरातिशयेन च सेव्यमानो दृढभूमिस्थिरो भवति दायाय प्रभवति इत्यर्थः'**[14] अर्थात् बहुत काल तक निरन्तरता से, अतिशय आदर से सेवन किया जाता हुआ वह अभ्यास दृढभूमि वाला स्थिर हो जाता है। दृढता के लिए समर्थ हो जाता है ऐसा भाव है।

योगमार्ग के पथिक के लिए अभ्यास के द्वारा ही कल्याणवाहिनी धारा को प्रवाहित करना सम्भव होता है। इस धारा को निरन्तर प्रवाहित करने के लिए विवेक ज्ञान की प्राप्ति ही मुख्य उपाय बताया गया है। विवेक ज्ञान की प्राप्ति के लिए योगाङ्गों का पालन करना तो आवश्यक है तथा साथ ही इनका दीर्घकाल तक निरन्तर आदरपूर्वक अनुष्ठान करना भी आवश्यक है। बिना अभ्यास आत्मा के प्रबन्धन में मन और इन्द्रियों का होना असम्भव ही है।

वैराग्य- वि उपसर्ग पूर्वक 'रञ्ज रागे'[15] धातु से घञ् प्रत्यय[16] करके विराग शब्द सिद्ध होता है। 'विगतो रागो यस्मात् स विरागः। विरागस्य भावः कर्म वा वैराग्यम्।'[17] इस प्रकार शब्द की सिद्धि करने पर अर्थ होता है जिसमें राग न हो वह विराग है, विराग का होना ही वैराग्य है। यह वैराग्य शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। महर्षि पतञ्जलि ने वैराग्य शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है कि- 'दृष्ट और आनुश्रविक उभय प्रकार के विषयों से वितृष्ण चित्त की वशीकार प्रतीति अर्थात् स्वाधीन अनुभूति वैराग्य है।[18] सूत्र की व्याख्या करते हुए व्यास कहते हैं- स्त्रियाँ अन्न-पान इत्यादि दृष्ट विषय में व स्वर्ग, वैदेह्य, प्रकृतिलयत्व आदि की प्राप्ति रूपी आनुश्रविक विषय में वितृष्ण तथा दिव्य-अदिव्य विषय के सम्प्रयोग में भी दोष को देखने वाले चित्त का अनाभोगात्मक हेय और उपादेय दोनों से शून्य वशीकार ज्ञान वैराग्य कहलाता है।[19]

इसी प्रसङ्ग में भोज ने लिखा है कि दो प्रकार का विषय होता है दृष्ट और आनुश्रविक। दृष्ट का तात्पर्य है यहीं पर प्राप्त होने वाला शब्द आदि, आनुश्रविक का अर्थ है देवलोक आदि। गुरुमुख से जो सुना जाता है वह अनुश्रव अर्थात् वेद है उस वेद से प्राप्त होने वाला विषय आनुश्रविक है। उन दोनों दृष्ट और आनुभविक विषयों में परिणामविरसत्व का दर्शन करने से विगत हो गई है प्राप्त करने की इच्छा जिसमें उस वशीकार संज्ञा को वैराग्य कहते हैं, उसी के द्वारा यह अनुभूति होती है कि ये सब मेरे वश में होने वाले हैं।[20]

उभय आचार्यों के विचारों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि विषयों में सुखबुद्धि से रहित होना वैराग्य है। विषय दृष्ट और आनुश्रविक भेद से दो प्रकार के हैं। दोनों ही प्रकार के विषयों से रहित होना, उनके प्रति सुख-बुद्धि न रखना वैराग्य है और इस स्थिति को निरन्तर वर्तमान रखना अभ्यास है। इसलिए व्यास ने लिखा है- वैराग्य से विषय का स्रोत बन्द किया जाता है और विवेक दर्शन के अभ्यास से विवेक का स्रोत खोला जाता है। इस प्रकार अभ्यास और

वैराग्य दोनों के ही अधीन चित्तवृत्तियों का निरोध है।

वैराग्य की भी दो कोटियाँ हैं पर वैराग्य और अपर वैराग्य। पूर्व में जो कहा गया है वह अपर वैराग्य है। पर वैराग्य की परिभाषा करते हुए पतञ्जलि लिखते हैं कि जीवात्मा का साक्षात् होने से सत्त्वादि तीनों गुणों के प्रति वासनाओं का अभाव हो जाना पर वैराग्य कहलाता है।[21] वैराग्य के दृष्टिकोण से एक स्थिति यह है कि- विषयों की लालसा हुई और साधक ने ज्ञानपूर्वक उनको रोक दिया यह अपर वैराग्य है। जीवात्मा का साक्षात्कार हो जाए और सत्त्वादि गुणों के प्रति वितृष्णा पैदा हो जाए तथा विषयों के प्रति लालसा का पूर्णतया अभाव हो जाए यह पर वैराग्य है।

इस पर व्यास ने लिखा है कि- दृष्टानुश्रविक विषय में दोष देखने वाला विरक्त है, यह अपर वैराग्य है। पुरुष के दर्शन का अभ्यास होने से पुरुष की शुद्धि और प्रविवेक से आप्यायित बुद्धि वाला व्यक्ति व्यक्ताव्यक्त धर्म वाले गुणों से ही विरक्त हो जाए यह अपर वैराग्य है। इनमें से जो उत्तर वाला है वह ज्ञान-प्रसाद है, जिसके उदय हो जाने पर प्रत्युदित ख्याति वाला योगी ऐसा मानता है कि जो प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया। क्षेतव्य क्लेशों को क्षीण कर दिया। श्लिष्ट पर्व वाला वह संसार चक्र छिन्न कर दिया, जिसके छिन्न न होने से पैदा होकर मरते हैं और मरकर पैदा होते हैं। ज्ञान की पराकाष्ठा ही वैराग्य है। कैवल्य और इस वैराग्य के बीच में कोई व्यवधान नहीं है अर्थात् इस वैराग्य से कैवल्य की प्राप्ति सुनिश्चित है।[22]

इस सूत्र के विषय में भोज का कथन है कि यह परवैराग्य अर्थात् प्रकृष्ट वैराग्य है। प्रथम वैराग्य विषय-विषयक है तथा द्वितीय गुणों के प्रति तृष्णारहित रूप वाला है। प्रकृति के गुणों और पुरुष के भेद ज्ञान के उत्पन्न होने पर ही वह होता है। वह असम्प्रज्ञात समाधि के लिए अत्यन्त अनुकूल है।[23]

अपर वैराग्य संसार में योगी व्यक्ति को प्रबन्धन करने में कृतकृत्य करता है और पर वैराग्य व्यक्ति को आत्मानुशासित करते हुए मोक्ष तक उपलब्ध कराता है। आत्मप्रबन्धन की सामान्य कोटि अपर वैराग्य है तो विशेष कोटि पर वैराग्य है। परवैराग्यवान् प्रबन्धक का संसार में न कोई शत्रु होता है, न कोई मित्र होता है। वह शत्रुता और मित्रता दोनों से ही परे होता है। ऐसा योगी इस संसार में एकनिष्ठ रहकर प्रसन्न रहता है तो परलोक में स्वर्ग का सुख अथवा मोक्षानन्द को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आत्मप्रबन्धन की आवश्यकता इसलिए होती है क्योंकि मानव चित्त के अधीन होकर प्रकृति के पाश में बँधता है और प्रकृति को प्राप्त करने और उसके उपभोग में सदैव तत्पर रहता है। चित्ताधीन व्यक्ति प्रशासन से तो कुछ कर सकता है किन्तु अनुशासन उसके वश में नहीं रहता है। अनुशासन न होने से सांसारिक बन्धनों में फंसकर असंख्य योनियों में गमनागमन करता हुआ दुःख ही भोगता रहता है। दुःख से निवृत्ति का मुख्य साधन आत्मप्रबन्धन है और आत्मप्रबन्धन में मुख्य कर्त्तव्य चित्तवृत्तियों का निरोध है। चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य मुख्य साधन हैं। गीता में भी भगवान् कृष्ण ने **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'**[24] कहते हुए इसी तथ्य को प्रतिपादित किया है। अर्थात् उन्नत से उन्नत और अवनत से अवनत मार्ग में मनुष्य को ले जाने वाला यह दुर्निग्रह, अतिचञ्चल मन अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है।

सन्दर्भ सूची :

1. तस्य हेतुरविद्या। योगसूत्र 2/24
2. योगसूत्र 1/4
3. अदादिगण
4. नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। अष्टाध्यायी, 3/3/134
5. दिवादिगण

6. अदादिगण
7. चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्रारभारा विवकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा संसारप्रारभारा अविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोत विलीक्रियते, विवेक-दर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोतः उद्घाट्यते। व्यासभाष्य, योगसूत्र 1/12
8. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योगसूत्र 1/12
9. योगसूत्र 1/13
10. चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः। तदर्थ प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः तत्सम्पिपादिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः। व्यासभाष्य, योगसूत्र, 1/13
11. वृत्तिरहित्तस्य चित्तस्य स्वरुपनिष्ठः परिणामः स्थितिः, तस्यां मनः उत्साहः पुनः पुनस्तत्त्वेन चेतसि निवेशनम् अभ्यास इत्युच्यते। भोजवृत्ति, योगसूत्र 1/13
12. योगसूत्र 1/13
13. दीर्घकालासेवितो निरन्तरासेवितः सत्कारासेवितः । तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढभूमिर्भवति। व्यासभाष्य, योगसूत्र 1/14
14. भोजवृत्ति, योगसूत्र 1/14
15. भ्वादिगण
16. भावे। अष्टाध्यायी, 3/3/18
17. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। अष्टाध्यायी, 5/1/124
18. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यम्। योगसूत्र 1/15
19. स्त्रियोऽन्नं पानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य स्वर्गवेदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषये सम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वीश-कारसंज्ञा वैराग्यम्। व्यासभाष्य योगसूत्र, 1/15
20. द्विविधो हि विषयो दृष्ट आनुश्रविकश्च दृष्ट इहैवोपलभ्यमानः शब्दादिः। देवलोकादावानुश्रविकः, अनुश्रूयते गुरु-मुखादित्यनुश्रवो वेदः तत्समधिगत आनुश्रविकः । तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्वदर्शनाद्विगतर्द्धस्य या वशीकारसंज्ञा ममेते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयं विमर्शः, तद् वैराग्यमुच्यते । भोजवृत्ति, योगसूत्र, 1/15
21. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । योगसूत्र, 1/16
22. दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः। पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाव्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्म-केभ्यो विरक्त इति । तद्द्वयं वैराग्यम् । तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम् । यस्योदये सति योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः यस्याविच्छेदाज्ज्ञानित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति । ज्ञानस्यैव परा काष्टा वैराग्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति । व्यासभाष्य, योगसूत्र 1/16
23. तद् वैराग्यं परं प्रकृष्टं प्रथमं वैराग्यं विषयविषयम्। द्वितीयं गुणविषयमुत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्यातेरेव भवति निरोधसमाधेरत्यन्तानुकूलत्वात्।। भोजवृत्ति, योगसूत्र, 1/16
24. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
    अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते । श्रीमद्भगवद्गीता 6/35

•